प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन की प्रमुख स्वरूप व विशेषताएं

राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में भारतीय चिंतन की एक गौरवशाली परम्परा रही। अपने चिंतन एवं दार्शनिक विचारों के आधार पर ही भारत को विश्व गुरू कहा जाता था।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का स्वरूप उसकी विशेषताओं से स्पष्ट झलकता हैं। प्राचीन भारत में जो सामाजिक चिंतन किया गया था उसकी कुछ अपनी अलग विशेषताएं हैं। जो कि उसे पाश्चात्य देशों के राजनीतिक चिन्तन से अलग बनाती हैं। ये विशेषताएं उस समय के भारत की सामाजिक परिस्थितियों, आर्थिक प्रगतियों, राजनीतिक उथल-पुथल एवं बौद्धिक विकास के स्तर से प्रभावित थीं।

हिन्दु राजनीतिक विचारों तथा संस्थाओं का विकास अति प्राचीनकाल से ही विविध सामाजिक और धार्मिक परिस्थतियों से प्रभावित रहा हैं। युगों के मूल्यों के अनुसार ही राजनीतिक व्यवस्थाओं में भी परिवर्तन होते रहे हैं।

पाश्चात्य राजनीतिक विद्वान यह मानते है कि राजनीति-दर्शन का आरंभ यूनान में हुआ था। उनका कहना था कि प्राचीन भारत, राजनीतिक विचारों से अनभिज्ञ था। परन्तु उनके ये विचार उनके अज्ञान पर आधारित हैं। जबकि सत्य तो यह है कि पश्चिमी सभ्यता के जन्म से भी शताब्दियों पहले भारत में उच्चकोटि की राजनीतिक संस्थाएँ विद्यमान हुआ करती थी । साथ ही अत्यंत प्राचीनकाल में ही भारत में राजनीतिक विचारों का विकास हो चुका था।

डॉ. ओम नागपाल के अनुसार," प्लेटो और अरस्तू से शताब्दियों पहले ही भारत में राजनीतिशास्त्र पर पर्याप्त लिखा जा चुका था। अरस्तु के समकालीन कौटिल्य के, जिसे व्यावहारिक राजनीति का पिता कहा जा सकता हैं, विचार इस बात के साक्षी हैं कि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारत कभी भी किसी से पीछे नहीं था।"

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन की निम्नलिखित विशेषताएं हैं--

1. आध्यात्मिक की ओर झुकाव

भारत को एक आध्यात्मिक देश कहा जाता हैं चूँकि भारत का झुकाव प्रारंभ से ही आध्यात्मिकता की ओर रहा हैं। यहाँ के लोगों ने आत्मा तथा परमात्मा जैसे आदि भौतिक तत्वों पर जिस गहराई के साथ विचार किया हैं उसका उदाहरण विश्व के किस भी देश में प्राप्त नहीं होता। यही कारण है कि भारत को संसार का आध्यात्मिक गुरू कहा जाता हैं। यहाँ जीवन के प्रत्येक पहलू पर जो विचार किया गया, उसमें दृष्टिकोण हमेशा ही आध्यात्मिक रहा हैं।

लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि भारतीय विचारकों ने जीवन की वास्तविकताओं के संबंध में कोई विचार नही किया अथवा उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखा। वास्तविक जीवन के प्रति उनमें पर्याप्त आकर्षण था, तथापि उनका मूल्य उद्देश्य आत्मा का विकास था। इस उद्देश्य की पूर्ति को ही उन्होंने अपनी समस्त संस्थाओं को, यहाँ तक कि जीवन को भी इसका आधार बनाया।

2. राजा सर्वोपरि नहीं

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन में राजा के संबंध में विस्तार से विचार किया गया हैं। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में राजा के पद को अत्यधिक ऊँचा स्थान प्रदान किया गया हैं। प्राय: सभी लेखकों ने राजपद को दैवी-माना और राजा में दैवी गुणों का समावेश किया।

लेकिन राजा सर्वोपरि नहीं हुआ करता था। सभी विचारकों और स्मृतियों ने राजा की उत्पति, शक्तियाँ, दायित्व और उसकी स्थिति के संबंध में विचार किया हैं। प्रजा को राज्याज्ञा मानने के संबंध में भी विचार किया हैं। राज्याज्ञा का औचित्य और किस सीमा तक प्रजा को राज्याज्ञा माननी चाहिए तथा कब राज्याज्ञा को स्वीकार करने से मना करना चाहिए, इन सभी प्रश्नों पर भी विचार किया हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राजा का स्थान बहुत महत्वपूर्ण होता था लेकिन राजा ही सर्वोपरि नही होता था। राजा को अत्यधिक ऊँचा स्थान देते हुए भी उसे निरंकुशता की स्थिति प्रदान नहीं की गयी थी। राजा पर प्रमुख रूप से धर्म का प्रतिबन्ध होता था और वह मंत्रिपरिषद् की सलाह लेने के लिए भी बाध्य था।

3. राजनीति एवं धर्म का समन्वय

भारतीय प्रशासन परम्परा में धर्म तथा राजनीति का पारस्परिक संबंध समय-समय पर बदलता रहा हैं। कभी धर्म राजनीति के अधीन, कभी राजनीति धर्म के अधीन रही हैं। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, स्मृतियाँ, महाभारत, रामायण, पुराण तथा अन्य साहित्यिक ग्रंथों का धार्मिक एवं राजनीतिक दृष्टियों से महत्व निःसंदेह हैं। राज्य को धर्म का प्रतिष्ठापक तथा मापदंड माना गया हैं। राजा के प्रति प्रजा की स्वामी भक्ति का आधार मुख्य रूप से धार्मिक था और क्योंकि धर्म की व्याख्या करने वाला पुरोहित होता था अतः उसकी शक्तियाँ अप**रिमित थीं।**

4. सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव

प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था राजनीतिक व्यवस्था का आधार होती हैं। प्राचीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था भी इससे अछूत नही थीं। प्राचीन भारत में जो सामाजिक व्यवस्था रही और उसमें समय-समय पर जो परिवर्तन आए उसके अनुरूप ही वहाँ राजनीतिक व्यवस्था भी अपना स्वरूप बदलती रही।

संपूर्ण समाज का विभाजन वर्ण व्यवस्था के अनुसार चार वर्णों में हो जाने के कारण राज्य का प्रमुख इस व्यवस्था की रक्षा करना था और प्रत्येक व्यक्ति को उससे संबंधित वर्ग में बनाए रखना था। समाज में जब नये-नये धर्म के उदय से अथवा विदेशी आक्रमणकारियों के आगमन से जब वर्ग भेद बढ़ गया तो राज्य शक्ति पर क्षत्रियों का एकाधिकार समाप्त हुआ और राज्य का मुख्य कार्य इन वर्गों के बीच समन्वय स्थापित करना बन गया।

5. राज्य एक आवश्यक एवं उपयोगी संस्था

प्राचीन राजनीतिक विचारक इस बात का समर्थन करते थे कि राज्य का होना सामाजिक जीवन के लिए बहुत ही जरूरी और उपयोगी हैं। जीवन के तीनों लक्ष्यों-- धर्म, अर्थ और काम की राज्य के बिना प्राप्ति नहीं हो सकती, ऐसा सभी प्राचीन राजनीतिक विचारों का मानना था।

इस प्रकार से प्राचीन भारत में व्यक्तिवादी और अराजकतावादी विचारकों का पूर्ण अभाव हुआ करता था। अराजकतावादियों को मानना है राज्य अनावश्यक और अनुपयोगी संस्था है और व्यक्तिवादी राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। इनके विपरीत प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्री का विस्तृत कार्यक्षेत्र मानते थे। उनके अनुसार राज्य एक आवश्यक और उपयोगी संस्था है, जो आज के लोकल्याणकारी राज्य से बहुत साम्य रखता हैं।

6. राजा के कर्त्तव्यों का विशद् वर्णन

वैदिक काल से ही राजा को महत्व तो दिया गया पर उसे देवत्व प्रदान नहीं किया हैं। वह निरंकुश और स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। हिन्दू राजनीतिक गंथों में राजपद की योग्यता, महत्व तथा कार्यों का विशद् वर्णन हैं। राजा को अपने दायित्वों का निर्वाह किस प्रकार से करना चाहिए और प्रजापालन के लिए कौन से साधनों का प्रयोग करना चाहिए आदि बातों का विस्तार के साथ उल्लेख किया गया हैं। इन ग्रंथों में स्पष्ट रूप से बताया गया हैं कि एक राजा का धर्म क्या हैं? उसे राजधर्म का

अनुशीलन किस प्रकार से करना चाहिए? राजा को दुष्टों का दमन करने के लिए क्या चाहिए? पड़ोसी राज्यों से उसे किस तरह के संबंध विकसित करने चाहिए तथा दण्ड नीति का कब और किस प्रकार करना चाहिए, कूटनीतिक व्यवहार में अपनाने योग्य सावधानियाँ कौन-सी हैं, आदि।

7. दण्ड-नीति का महत्व

भारतीय दार्शनिक मानवीय जीवन में आसुरी प्रवृत्तियों की प्रबलता को स्वीकार करते हैं और इसी कारण उनके द्वारा दण्ड की शक्ति को बहुत अधिक महत्व दिया गया हैं। प्राचीन भारतीय राजनीति में दण्ड के महत्व का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि इसका नामकरण अनेक लेखकों ने दण्डनीति के रूप में किया हैं।

8. धर्म सर्वोपरि

भारतीय चिंतन की एक विशेषता यह है कि प्राचीन भारतीय में धर्म को सर्वोपरि माना गया हैं। भारतीय चिंतन ने न तो राजा को ईश् वर का अवतार माना और न उसे स्वेच्छाचारी और निरंकुश माना और न उसे कानून का स्त्रोत माना और न उसे कानून का एकमेव व्याख्याकार माना। भारतीय चिंतन में धर्म को सर्वोपरि माना गया हैं। राजा को धर्मानुसार आचरण करना अनिवार्य है। यदि राजा धर्मानुसार आचरण नहीं करता, तो प्रजा को उसके विरोध में विद्रोह करने का पूरा अधिकार हैं।

9. लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का सर्वाधिक उज्जवल पक्ष यह है कि इसमें राज्य को एक लोक-कल्याणकारी संस्था माना गया हैं। राज्य को लोक-कल्याण के अनेक कार्य सौंप गए हैं। जैसे-- तालाबों और कुओं का निर्माण, मार्गों व सड़कों का निर्माण। यात्रियों की सुविधा हेतु धर्मशालाएँ बनाई जाती थी। राजा सांस्कृतिक समारोहों में भाग लेता था। अकाल, बाढ़ आदि से पीड़ित व्यक्तियों को सहायता देने का प्रावधान भी था। इस प्रकार प्राचीन भारत में राज्य का कार्यक्षेत्र संकुचित न होकर, पर्याप्त विस्तृत था और इसमें जनता की भलाई के कार्यों की सूची बहुत लम्बी थी।

10. राजनीतिक सिद्धांत धर्म के अभिन्न अंग

यह भारतीय राजनीति की सबसे प्रमुख विशेषता तथा विश्व को प्रमुख देन है कि हिन्दू राजशास्त्रवेत्ताओं ने राजनीति और धर्म को एक-दूसरे से अलग नही किया। प्राचीन भारत में राजनीतिक सिद्धांतों का विकास धर्म के अंग के रूप में हुआ। राजा और शासक का प्रमुख कर्तव्य धर्म का पालन करना समझा गया और शत्रु से भी धर्मयुद्ध करने का निर्देश दिया गया। इसी कारण प्राचीन भारत की राजनीति मे नैतिकता का समावेश रहा और राजशास्त्र को नीतिशास्त्र कहकर पुकारा गया। धर्म का रक्षण राज्य का प्रमुख दायित्व था। धर्म और राजनीतिक विचार एक-दूसरे से गुँथे हुए हैं

11. विचारों की अपेक्षा संस्थाओं को अधिक महत्व

प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अध्ययन का केन्द्रबिन्दु राजनीतिक संस्थाएँ हैं। इन संस्थाओं का महत्व, संगठन तथा कार्य आदि का विशद् रूप से वर्णन किया गया हैं। इनमें राजनीतिक मान्यताओं तथा सिद्धांतों का केवल प्रासंगिक रूप में किया गया हैं। समस्त अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु मूल रूप से राजनीतिक संगठनों तथा उनके कार्यों को बनाया गया हैं।

12. राजशक्ति पर अंकुश का कारगर तरिका

राजशक्ति पर अंकुश लगाने के संबंध में कारगर तरीका क्या हो सकता है? यह प्रश्न उस समय अधिक महत्व का हो जाता है जब राजा आततायी और निरंकुश प्रवृत्ति का हो। साधारणतः ऐसी स्थिति में धर्मपालन के ऊपर जोर देने के अतिरिक्त अन्य कोई व्यवस्था, जिसे वैधानिक बाध्यता की शक्ति प्राप्त हो प्राचीन समय में नही मिलती हैं, परन्तु प्राचीन काल धर्मभीरू और लौकिक तथा पारलौकिक विचारों से प्रभावित काल था। अच्छे कर्मों का अगले जन्म में अच्छा फल मिलेगा, बुरे कर्मों का बुरा फल मिलेगा, यह विश्वास भारतीय जीवन में बहुत अधिक गहरा था। स्वर्ग-नरक का भय राजा सहित सभक व्यक्तियों के जीवन, सांसारिक जीवन के व्यवहारों को नियंत्रित करता था। निरंकुश और आततायी शासक के कार्यों को मर्यादित करने के लिए और धर्मानुसार आचरण करने हेतु उसे प्रवृत्त करने के लिए इस भय की बहुत बड़ी भूमिका थी।

13. प्रजा को विद्रोह का अधिकार

हिन्दु धर्मग्रन्थों में प्रजा को अधिकार दिया गया हैं कि वह आततायी राजा से छुटकारा पाने के लिए राजा को यह चेतावनी दे कि वह अपना व्यवहार बदले और यदि वह अपना व्यवहार नहीं बदलता तो उसे राज्य से बाहर चले जाने की चेतावनी भी दे। सहज विचार तो यह है कि ऐसा करने से राजा संभल जाएगा और उसके आचरण में सकारात्मक बदलाव आएगा, पर यदि चेतावनी के बाद भी राजा का आचरण नहीं बदलता है तो शुक्र नीति में कहा गया है कि यदि राजा इतने पर भी न सुधरे, तो उसे गद्दी से उतार देना चाहिए और राजपरिवार के किसी योग्य व्यक्ति को राजा की गद्दी पर बिठा देना चाहिए। महाभारत तो कोई मार्ग न निकलने पर राजा के वध की भी अनुमति देता हैं।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन का मूल्यांकन

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र एवं चिंतन की कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने आलोचना की है जिसका उद्देश्य उसके स्वतंत्र अस्तित्व का खंडन करना है। ये आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की गई हैं–

1. प्राचीन भारतीय राजशास्त्र, धर्मशास्त्र से पृथक नहीं है

आलोचना का सर्वप्रथम आधार यह है कि हिंदुओं ने राजनीति को धर्मशास्त्र व आध्यात्मवाद से स्वतंत्र नहीं किया। डनिंग के शब्दों में," भारतीय आर्यों ने अपनी राजनीति को धार्मिक और आध्यात्मवादी पर्यावरण से, जिसमें कि यह आज भी गड़ी हुई है, कभी भी स्वतंत्र नहीं किया।"

जर्मन विद्वान मैक्समूलर का कहना है कि," भारतीयों को राष्ट्रीयता की भावना का ज्ञान नहीं था।" धर्म का भारतीय मन पर इतना घनिष्ठ प्रभाव था कि वह राज्य संबंधी विचार की धारणा से वंचित रहा।

2. स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना

प्राचीन भारत के राजदर्शन पर दूसरा यह आरोप लगाया गया कि यहां पर एकमात्र स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना की गई थी। हेनरी मेन ने लिखा है कि," पूर्व के बड़े साम्राज्य मुख्यतः कर एकत्रित करने वाली संस्थाएं थीं राजा समय-समय पर अपनी प्रजा पर हिंसात्मक बल का प्रयोग करते थे।" इन आरोपों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पाश्चात्य आलोचक ऐसा मानते हैं कि भारतीय मस्तिष्क की गतिविधि धार्मिक व दार्शनिक विचारों में समाप्त हो गई जिसके परिणामस्वरूप भारत में राष्ट्रीयता की भावना का कोई विकास न हो सका और राज्य के बारे में कोई धारणा न बन सकी।